Q1. निर्वचन संविधि की नीति एवं उददेश्य के अनुसार होना चाहिए। टिपण्णी कीजिये।

शाब्दिक अथवा व्याकरणिक निर्वचन (Literal or Grammatical Interpretation)– शाब्दिक अथवा व्याकरणिक निर्वचन, निर्वचन का प्रथम सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त की मान्यता है कि, किसी अधिनियम में प्रयुक्त हुए शब्दों को उनका साधारण एवं स्वाभाविक अर्थ ही प्रदान किया जाना चाहिए एवं यदि ऐसा अर्थ स्पष्ट एवं असंदिग्ध हो तो किसी भी कानून के उपबन्ध को प्रवर्तित किया जा सकता है चाहे इस प्रकार के प्रवर्तन का परिणाम कुछ भी हो।

इस सिद्धान्त का आधार यह है कि निर्वचन के सभी सिद्धान्तों का एकमात्र उद्देश्य विधायिका के आशय को जानना है। विधायिका अपना आशय शब्दों के माध्यम से ही प्रकट करती है। इसलिए इन शब्दों का निर्वचन व्याकरणिक आधार पर ही किया जाता है। इस नियम को सर्वाधिक सुरक्षित नियम कहा जाता है, क्योंकि विधायिका द्वारा प्रयुक्त की गयी अभिव्यक्ति के आशय को ' शब्दों द्वारा ही ज्ञात किया जा सकता है। यदि किसी कानून की भाषा स्पष्ट हो तो ऐसी स्थिति में न्यायालय का यह कर्तव्य है कि वह उस अधिनियम के उपबन्धों में प्रयुक्त भाषा को ही प्रभाव प्रदान करे, न कि उसके निर्वाचन के परिणाम को देखे। विधि को यथास्थित प्रतिपादित करने के लिए न्यायालय बाध्य होते हैं। किसी अधिनियम के अन्तर्गत यदि किन्हीं तकनीकी शब्दों को प्रयोग किया गया है, तो न्यायालय को उन शब्दों का तकनीकी अर्थ ही निकालना चाहिए।

शाब्दिक अथवा व्याकरण मूलक व्याख्या के सन्दर्भ में शब्द Litera legis एवं Litera Scripta का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनका अर्थ है- लिपिबद्ध किये गए वैध शब्द ही विधि के परिचायक होते हैं। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि लिपिबद्ध विधि में किसी भी प्रकार का परिवर्तन करने के लिए न्यायाधीश अधिकृत नहीं होते हैं। इन शब्दों की व्याख्या न्यायाधीश अपनी इच्छा के अनुरूप नहीं कर सकता है। Liters legis में विधि के शब्दों का सम्मान महत्त्वपूर्ण एवं सुरक्षित माना गया है। इसके स्थान पर Sententia legis को प्रयुक्त नहीं किया जा सकता है

जिसका तात्पर्य है विधि के अभिप्राय को खोज निकालने का प्रयास करना। विधि न्यायालय किसी संविधि के अभावों की पूर्ति नहीं कर सकते हैं। जमुना प्रसाद बनाम राज्य, 1959 A.L.J. 620 के मामले में न्यायालय द्वारा अवधारित किया गया कि विधि की ऐसी ठोस शब्दावली को ही उत्तम माना जाता है जिससे एक ही अर्थ का अनुमान लगाया जा सकता हो।

राम अवतार बनाम सहायक विक्रय अधिकारी, A.L.R. 1961, S.C. 1325 के मामले में मुख्य प्रश्न यह था कि क्या पान का पत्ता विक्रय कर के अधिरोपण से मुक्त है अथवा नहीं ? इस सम्बन्ध में अपीलकर्ता द्वारा यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि पान का पत्ता 'वेजीटेबल' के अन्तर्गत आता है, इसलिए इस पर विक्रय कर अधिरोपित नहीं किया जा सकता है। शब्दकोष के अनुसार, 'वेजीटेबल' वह होता है, जो पौधों या उनके भागों से सम्बन्धित हो; या उसमें सम्मिलित हो; या उनसे निकाली जाय; या उनसे प्राप्त हो। परन्तु उच्चतम न्यायालय ने इस तर्क को नहीं माना। उच्चतम न्यायालय ने आगे कहा कि, जब स्वाभाविक या साधारण अर्थ स्पष्ट तथा सन्देहहीन हो तो पान के

पत्तों को शब्दकोष तकनीकी अथवा वनस्पति शास्त्रीय अर्थ प्रदान नहीं किया जा सकता है। प्रतिदिन प्रयोग होने वाले शब्दों को उनके लोकप्रिय अर्थ में समझा जाना चाहिए। उच्चतम न्यायालय द्वारा अवधारित किया गया कि,

पान का पत्ता इस अर्थ में वेजीटेबल नहीं है और न वह सब्जी के अन्तर्गत हो है। अत: पान के पत्तों का विक्रय, विक्रय कर योग्य है।

निर्वचन के शाब्दिक अथवा व्याकरणिक सिद्धान्त के सम्बन्ध में ए. आर. अन्तुले बनाम आर. एस. नायक**, A.I.R.** 1984, S.C. 718 का मामला एक महत्त्वपूर्ण मामला है जिसमें उच्चतम न्यायालय द्वारा यह अवधारित किया गया है कि न्यायालय को किसी उपबन्ध को जैसा वह है, वैसा ही पढ़ना चाहिए एवं वह उसे सुविधानुसार लिख नहीं सकता। निर्वचन का कोई भी सिद्धान्त, इस बात के लिए न्यायालय को अनुमति नहीं देता है कि वह धारा को इस तरह पढ़े कि उसका अर्थ अन्यथा ही निकले। आपराधिक विधि संशोधन अधिनियम, 1952 की धारा 8 (1) के अनुसार विशेष न्यायाधीश अपराध का प्रसंज्ञान लेगा न कि अभियुक्त की

PGS NATIONAL COLLEGE OF LAW

सुपुर्दगी पर ऐसे अपराध का प्रसंज्ञान लेगा। विधायिका ने सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों ही दशाओं के लिए प्रावधान किया है। विशेष न्यायाधीश को सकारात्मक रूप से अपराध के प्रसंज्ञान के लिए अधिकृत किया गया है एवं किसी भी तरह की सुपुर्दगी की धारणा को नकारा गया है। अतः यह सम्भव नहीं है कि धारा 8 (1) को अपीलार्थो द्वारा बताये गये ढंग से कि "केवल पुलिस आवेदन पर ही प्रसंज्ञान किया जा सकता है " नहीं पढ़ा जा सकता।

रघुनन्दन शरण बनाम मै. प्यारे लाल वर्कशॉप प्राइवेट लिमिटेड, A.I.R. 1986, S.C. 1682 के मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा अवधारित किया गया कि किरायेदारों को केवल इस आधार पर कि उन्होंने पूर्व के दिल्ली किराया नियन्त्रण अधिनियम, 1952 की धारा 13(2) के अन्तर्गत समान लाभ प्राप्त किया था, दिल्ली किराया नियन्त्रण अधिनियम, 1958 की धारा 14 (2) के अन्तर्गत किराया न अदा करने पर अनिष्कासन के लाभ से वंचित नहीं किया जा सकता। जहाँ कानून की भाषा स्पष्ट हो वहाँ निर्वचन का प्रश्न ही नहीं है। व्याकरणीय निर्वाचन सबसे सुरक्षित नियम है।

उत्तर प्रदेश भूदान यज्ञ समिति बनाम बृज किशोर, A.I.R. 1988, S.C. 2239 के मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अवधारणा व्यक्त की कि भूटान यज्ञ आन्दोलन ने सामान्यतया एक अभिव्यक्ति 'भूमिहीन विकास' का उपयोग किया। यह अभिव्यक्ति सभी स्थानों पर प्रचलित हुयी और इसे उन कृषि मजदूरों के रूप में समझा गया, जिनकी कि आजीविका का मुख्य साधन कृषि है, परन्तु जिनके पास स्वयं की अपनी कोई भूमि नहीं है अथवा राजस्व अभिलेखों में जिनके नामों में कोई कृषि भूमि अभिलिखित नहीं है। भूमिहीन किसानों की इस समस्या को सुलझाने का प्रयास इस आन्दोलन ने किया और इसी समस्या के उपचार के लिए उत्तर प्रदेश भूदान यज्ञ अधिनियम, 1953 को अधिनियमित किया गया, परन्तु प्रारूपकारों ने अधिनियम का प्रारूपण करते समय अभिव्यक्ति भूमिहीन किसान' के स्थान पर भूमिहीन व्यक्ति का उपयोग किया। किसी अभिव्यक्ति को वह शब्दकोष का अर्थ नहीं दिया जा सकता, जो अप्रचलित हो चुका हो और इसलिए उक्त अधिनियम में 'भूमिहीन किसान' ही वास्तविक अर्थ है।

सरसिल्क लिमिटेड बनाम कपड़ा समिति, A.L.R. 1989 S.C. 317 के मामले में उच्चतम न्यायालय ने अभिमत अभिव्यक्त किया कि 'रेयान' एवं 'नायलॉन' धागा न केवल 'अन्य रेशा' से बनाया जाता है, बल्कि वे कपड़ा समिति अधिनियम, 1963 की धारा 2 (छ) के अन्तर्गत 'कृत्रिम सिल्क' धागा है। धारा 2 (छ) में अभिव्यक्त 'कपड़ा' की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है कि उसके अन्दर न केवल धागा को ही, बल्कि मानव द्वारा निर्मित रेशे अथवा कृत्रिम सिल्क को भी सम्मिलित किया गया है। विधायिका द्वारा प्रयुक्त भाषा "धागा मानव द्वारा निर्मित रेशे जिसे कृत्रिम सिल्क के नाम से भी जाना जाता है" को वैज्ञानिक अथवा तकनीकी अर्थ में समझा जाना चाहिए। इस

अधिनियम के अन्तर्गत रासायनिक शास्त्र पर कोई वैज्ञानिक पुस्तक नहीं है, यह देशी कपड़ा उद्योग के हितों के लिए एक अधिनियमिति है, जिससे भीषण अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता में भी वह स्वयं खड़ा सके। सन् 1973 के संशोधन से पूर्व धारा 2 (छ) की परिभाषा की सीमा से मानव द्वारा निर्मित रेशे; जैसे-हिस्क्रीज रेयान और नायलॉन रेशे को अलग रखने का संसद के पास कोई कारण नहीं दृष्टिगत होता है। विशेषतः उस समय जब कृत्रिम धागों का अन्तर्राष्ट्रीय बाजार है, जिसमें भारत भी सहभागी है।

इसी प्रकार सरस्वती चीनी मिल बनाम हरियाणा राज्य बोर्ड, A.I.R. 1992. S.C. 224 के मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा अवधारित किया गया कि, जल (प्रदूषण निवारण तथा नियन्त्रण) उपकर अधिनियम, 1977 को प्रथम अनुसूची की प्रविष्टि 15 में प्रयुक्त शब्द 'वेजीटेबल' को आम अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। इस शब्द को वास्तविक अर्थ नहीं दिया जा सकता है। अतः गन्ना वेजीटेबल नहीं है। इस प्रकार गन्ने से चीनी बनाने वाले उद्योग इस प्रविष्टि के अन्तर्गत नहीं आते हैं और उनसे उपकर नहीं लिया जा सकता। शीरा से मद्यसार बनाने वाले उद्योग भी इस प्रविष्टि के अन्तर्गत उद्योग नहीं कहे जा सकते हैं।

तेज कुमार बालकृष्ण रुड्या बनाम ए. के. मेनन, A.I.R. 1997, S.C. 442 के मामले में उच्चतम न्यायालय ने विशेष न्यायालय (प्रतिभूति सम्बन्धित संव्यवहारों के अपराधों के विचारण) अधिनियम, 1992 को धारा 3(3) का निर्वाचन करते हुये अवधारित

PGS NATIONAL COLLEGE OF LAW

किया कि विधि का स्वरूप जैसा हो उसे उसी प्रकार से निर्वाचित किया जाना चाहिए। यद्यपि प्रयोजनकारी निर्वाचन अनुज्ञेय है, तथापि जहाँ दो अर्थ निकलना सम्भावित हो वहाँ प्रयोजनकारी निर्वाचन ऐसा होना चाहिए जो उपबन्ध की संवैधानिकता को बनायें रखें।

नेशनल इन्स्योरेंस कं. लि. वनाम शिन्दर कौर, A.I.R. 1998, पंजाब व हरियाणा 134 के मामले में उच्च न्यायालय द्वारा अवधारित किया गया है कि जहाँ किसी संविधि की भाषा साधारण एवं स्पष्ट हो, वहाँ उसे उसी के अनुरूप अर्थ दिया जाना चाहिए। ऐसे मामलों में आशय पर भी विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

इसी प्रकार राजस्थान उच्च न्यायालय द्वारा कैलाश चन्द बनाम श्री किशन, A.I.R. 1998, राजस्थान 131 के मामले में अवधारित किया गया है कि संविधि के साधारण शब्दों को साधारण भाव में हो लेना चाहिए चाहे उसके परिणाम कुछ भी निकलें। ऐसे मामलों में कठिनाई, असुविधा, अन्याय आदि बिन्दुओं पर विचार करना अपेक्षित नहीं है।

शाब्दिक व्याख्या के नियम (Rules of Literal Interpretation) - जैसा कि हम सभी को विदित है कि व्याख्या का मुख्य उद्देश्य विधायिका के आशय का पता लगाना एवं उसी के अनुरूप उसे अर्थ देना है। अतः किसी भी विधि की शाब्दिक व्याख्या ज्यों की त्यों की जानी चाहिए और व्याकरण के नियमों से शब्दों के प्रयोग का जो अभिप्राय निकलता हो उसी को ठीक माना जाना चाहिए ताकि शब्दों का सहज एवं स्वाभाविक अर्थ लगाया जा सके। मैक्सवैल के शब्दों में, संविधियों की व्याख्या का स्वर्णिम नियम यह है कि विधि की शाब्दिक एवं व्याकरण मूलक व्याख्या ज्यों की त्यों की जानी चाहिए तथा उसमें प्रयुक्त किये गए शब्दों का सहज एवं स्वाभाविक अर्थ लगाया जाना चाहिए।

शाब्दिक व्याख्या के नियम अथवा सिद्धान्त संक्षेप में निम्नलिखित हैं --

शब्दों का यथार्थ प्रयोग–यदि किसी संविधि के प्रारम्भ में शब्दों की परिभाषाएँ दी गयी हैं तो उस सम्पूर्ण संविधि के सन्दर्भ में उन शब्दों को वही अर्थ दिया जाना चाहिए। अतः शाब्दिक व्याख्या का यह सबसे महत्त्वपूर्ण नियम है कि शब्दों का अर्थ यथार्थ रूप में लगाया जाना चाहिए जोकि स्वाभाविक एवं सहज हो ।

शब्दों का मुख्य एवं गौण अभिप्राय- शाब्दिक व्याख्या का यह भी नियम है कि जहाँ तक सम्भव हो सके किसी संविधि में प्रयुक्त किये गए शब्दों का प्राथमिक रूप से मुख्य एवं प्राकृतिक अर्थ ही लगाया जाना चाहिए। गौण अर्थ उसी स्थिति में लगाया जाना चाहिए जबकि ऐसा किया जाना विधायिका द्वारा हो ।

शब्दों का सामान्य अर्थ- शाब्दिक व्याख्या का यह भी एक महत्त्वपूर्ण नियम है कि किसी संविधि की व्याख्या करते समय उसमें प्रयुक्त किये गए शब्दों को प्रचलित अर्थ दिया जाना चाहिए। उड़ीसा उच्च न्यायालय ने जोगेश्वर मांझी बनाम रामिया किशन, A.I.R. 1997, उड़ीसा 54 के मामले में मत व्यक्त किया है कि प्राकृतिक नियम यह है कि सामान्य शब्दों को उसका सामान्य अर्थ ही दिया जाय।

वाणिज्यिक शब्दों का अर्थ-व्यापार एवं वाणिज्य से सम्बन्धित विधियों एवं संविधियों के अन्तर्गत व्यापारिक शब्दों को प्रयुक्त किया जाता है, जोकि व्यापार के क्षेत्र में काफी प्रचलित होते हैं। इसलिए ऐसी विधि या संविधि में प्रयुक्त किये गए शब्दों को वही अर्थ दिया जाना चाहिए जिसके लिए कि वे व्यापार जगत में प्रचलित हैं।

विधिक शब्दों का अर्थ- किसी संविधि में प्रयुक्त किये गए विधिक शब्दों को विधिक अर्थ ही दिया जाना चाहिए, क्योंकि विधिक शब्द एवं सामान्य शब्दों में भिन्नता होती है तथा उनका अर्थ एवं आशय भी भिन्न होता है।

उदाहरणार्थ-'विवाचन' एवं 'विवाचन करार' एक ही अधिनियम के दो अलग-अलग शब्द हैं जिनका आशय एवं अर्थ भी भिन्न है। अत: इन शब्दों की व्याख्या इसी के अनुरूप की जानी चाहिए।

तकनीकी शब्दों का अर्थ-तकनीकी शब्दों की व्याख्या विधायिका के आशय को ध्यान में रखते हुये की जानी चाहिए क्योंकि तकनीकी विषयों में प्रयुक्त किये जाने वाले शब्द तकनीकी प्रकृति के होते हैं तथा उनका शाब्दिक अर्थ तकनीकी अर्थ से भिन्न

PGS NATIONAL COLLEGE OF LAW

होता है। रुक्मा बाई बनाम लाल भाई मोती चन्द**, 5 M.I.A. 234** के मामले में अवधारित किया गया कि यदि किसी संविधि में विधायिका ने आशयपूर्वक किसी तकनीकी शब्द को प्रयुक्त किया है, तो उसे तकनीकी अर्थों में ही ग्राह्य किया जाना चाहिए चाहे वह शाब्दिक अर्थ से भिन्न ही क्यों न हो।

कलात्मक शब्दों का अर्थ-किसी संविधि में कलात्मक रूप से प्रयुक्त किये गए शब्दों की व्याख्या कलात्मक रीति से एवं तकनीकी अर्थ में की जानी चाहिए।

एक से अधिक अर्थ रखने वाले शब्दों का अर्थ-किसी संविधि में कई बार ऐसे शब्दों को प्रयुक्त कर दिया जाता है जिसके अर्थ एक से अधिक होते हैं। ऐसी स्थिति में किसी एक अर्थ को ग्रहण करना द्विविधापूर्ण हो जाता है। अत: ऐसे शब्दों की व्याख्या इस प्रकार की जानी चाहिए कि एक तरफ तो विधायिका के आशय की पूर्ति हो जाय तथा दूसरी तरफ वह संविधि के उपबन्धों के अनुरूप भी हो ।

तेज कुमार बालकृष्ण बनाम ए. के. मेनन, A.I.R. 1997, S.C. 442 के मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा अवधारित किया गया है कि जहाँ किसी शब्द के दो अर्थ निकलते हों अथवा दो मत बनते हों, वहाँ उसमें से ऐसे अर्थ अथवा

मत को अंगीकृत किया जाना चाहिए जो उस उपबन्ध की संवैधानिकता को सुरक्षा प्रदान करती हो। प्रियव्रत मेहता बनाम अमरेन्द्र बैनर्जी, A.I.R. 1997, पटना 114 के मामले में पटना उच्च न्यायालय ने तथा शान्ति स्वरूप सरकार बनाम प्रदीप कुमार सरकार, A.I.R. 1997, कलकत्ता 197 के मामले में कलकत्ता उच्च न्यायालय ने भी इसी प्रकार की अवधारणायें व्यक्त की हैं।

समतुल्यता शब्दों का अर्थ- संविधियों की शाब्दिक व्याख्या का एक नियम यह भी है कि संविधि में प्रयुक्त किये गए शब्द को सभी स्थानों पर समतुल्य अर्थ दिया जाना चाहिए। एक ही शब्द को भिन्न-भिन्न अर्थ दिया जाना उचित नहीं है।

'और' एवं 'अथवा' शब्दों का प्रयोग-संविधियों में अधिकांश रूप से 'और' एवं ' अथवा ' शब्दों को प्रयुक्त किया जाता है। ये दोनों ही शब्द भिन्न-भिन्न अर्थ बोधक हैं। अत: उनकी व्याख्या करते समय काफी सावधानी एवं सतर्कता बरतनी चाहिए। यदि इन दोनों शब्दों को एक दूसरे के स्थान पर प्रयुक्त कर दिया जाता है, तो इससे अर्थ का अनर्थ हो जाने की सम्भावना बढ़ जाती है।

डॉ. बी. एन. गुप्ता चेरिटेबल ट्रस्ट बनाम दिल्ली डवलपमेंट अथोरिटी, A.I.R. 1997, दिल्ली 50 के मामले में दिल्ली उच्च न्यायालय द्वारा यह अवधारित किया गया है कि 'और' एवं 'अथवा' शब्दों को अपनी-अपनी जगह ही प्रयुक्त किया जाना चाहिए।

एजस्डम जेनरिस का नियम- यह नियम भी शाब्दिक व्याख्या का एक महत्त्वपूर्ण नियम है जिसके अनुसार यदि किसी संविधि में विशिष्ट अर्थ वाले शब्दों का अनुगमन सामान्य शब्दों द्वारा किया जाता है, तो उनका अर्थान्वयन भी उसी रूप में किया जाना चाहिए जैसे उनका सम्बन्ध उन्हीं व्यक्तियों या सामान्य प्रकार की उन्हीं वस्तुओं से है जिनका उल्लेख उन शब्दों द्वारा किया गया है। इस नियम की प्रयोज्यता के लिये यह आवश्यक है कि संविधि में विनिर्दिष्ट शब्दों की गणना की गई हो, इन गणनाओं का समूह एक वर्ग गठित करता हो, ऐसी गणना से कथित वर्ग का समापन नहीं होता हो, सामान्य शब्द विशिष्ट शब्दों का अनुगमन करते हों, एक सामान्य वर्ग का अस्तित्व हो तथा विधायिका का आशय सामान्य शब्दों को व्यापक अर्थ प्रदान करने का नहीं रहा हो।

केसस ओमीसस का सिद्धान्त– 'केसस ओमीसस' का तात्पर्य है न्यायालय द्वारा संविधि की कमियों की पूर्ति नहीं किया जाना किसी संविधि की व्याख्या करते समय न्यायालय को यह अधिकार नहीं है कि वह उस संविधि में कोई शब्द जोड़े या निकाले और न न्यायालय उस संविधि के गुण एवं दोषों पर ही विचार कर सकता है, बल्कि न्यायालय का एक मात्र कर्तव्य यही है कि वह किसी संविधि की व्याख्या करते समय उस संविधि में प्रयुक्त किये गए शब्दों का शाब्दिक अथवा व्याकरणमूलक अर्थ ही ग्रहण करे।.

PGS NATIONAL COLLEGE OF LAW

रेडेण्डो सिंगूला सिंगूलस– इस नियम को प्रतिदान का नियम भी कहा जाता है, जिसका तात्पर्य है प्रत्येक शब्द को प्रत्येक का अर्थ प्रतिदान करना ।

नोसिटर - ए- सोसिस– शाब्दिक व्याख्या के इस सिद्धान्त का तात्पर्य है कि, "संदिग्ध शब्दों का अर्थ उनसे सम्बद्ध शब्दों से ग्रहण करना ।" इस सिद्धान्त के अनुसार किसी संविधि में प्रयुक्त किये गए शब्दों का अर्थ उस संविधि की विषय वस्तु से ग्रहण किया जा सकता है या उन शब्दों की ध्वनि से किया जा सकता है जिनके साथ वे शब्द प्रयुक्त किये गये हैं, परन्तु यह सिद्धान्त वहाँ लागू नहीं होगा जहाँ कि विधायिका का आशय स्पष्ट हो एवं शब्दों में किसी प्रकार की संदिग्धता न हो ।

Q2. रिष्टि का नियम क्या है ? उधाहरणो सहित नियम के लागु होने की परिस्थितियों की विवेचना कीजिये ।

उत्तर-रिष्टि से अभिप्राय किसी को साशय क्षति अथवा हानि पहुँचाना ही रिष्टि है। व्याख्या के सन्दर्भ में इसका अभिप्राय है किसी संविधि के उपबन्धों के दुरुपयोग को रोकना। कई बार शाब्दिक एवं व्याकरण मूलक व्याख्या से विधायिका का सही आशय ज्ञात नहीं हो पाता है। ऐसी स्थिति में रिष्टि के नियम का सहारा लिया जाता है तथा संविधि की नीतियों एवं विधायिका के आशय का पता लगाया जाता है। इस प्रकार रिष्टि से अभिप्राय हैं, संविधि के दुरुपयोग का निवारण संविधि में रिष्टि को कोई भी स्थान नहीं दिया जाना चाहिए परन्तु फिर भी यदि ऐसा किया जाता है तो उसका निवारण रिष्टि के नियम द्वारा किया जाना चाहिए।

रिष्टि का नियम अथवा अनिष्ट परिहार नियम हेडन, 76 E.R. 637 के मामले में रिष्टि के नियम का प्रतिपादन किया गया। इसमें एक्सचेकर के. बैरन्स ने प्रस्तावित किया कि, सामान्य रूप में सभी कानूनों का आश्वस्त एवं सच्चा निर्वचन करते समय (चाहे वे दाण्डिक हों या हितकारों सामान्य विधि को प्रतिबन्धित करते हों या विस्तारित करते हों) चार बातों की पहचान करना और उन पर विचार करना आवश्यक है, जो निम्नलिखित हैं—

1. अधिनियम पारित करने से पूर्व सामान्य विधि क्या थी?
2. वह रिष्टि या दोष क्या था, जिसके लिए सामान्य विधि में कोई प्रावधान नहीं था?
3. राष्ट्र मण्डल के रोग के निवारण के लिए संसद ने क्या उपचार संकलित किया? तथा
4. उपचार का वास्तविक कारण;

और तब सभी न्यायाधीशों का कर्त्तव्य सदैव ऐसा अर्थान्वयन करना है जो रिष्टि को दबाये और उपचार को अग्रसर करे और रिष्टि को बनाये रखने के लिए गूढ़ आविष्कारो और परिहारों को रोके तथा लोकहित में अधिनियम के निर्माताओं के वास्तविक आशय के आधार पर उपाय और उपचार में शक्ति तथा जीवन की वृद्धि करे।

तेज कुमार बालकृष्ण रुइया बनाम ए. के. मेनन, A.I.R. 1997, S.C. 442 के मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा अवधारित किया गया है कि जहाँ किसी शब्द के दो अर्थ निकलते हों तो ऐसे अर्थ को ग्रहण किया जाना चाहिए जिससे उस संविधि के उद्देश्यों की पूर्ति होती हो। इसी प्रकार की अवधारणा पटना उच्च न्यायालय ने प्रियव्रत मेहता बनाम अमरेन्दू बैनर्जी, A.I.R. 1997, पटना 114 के मामले में भी व्यक्त की है।

दिनेश चन्द जमनादास गाँधी बनाम गुजरात राज्य, A.I.R. 1989, S.C. 1011 के मामले में उच्चतम न्यायालय ने खाद्य अपमिश्रण निवारण अधिनियम, 1954 के कतिपय उपबन्धों का निर्वचन किया तथा स्पष्ट किया कि इस

PGS NATIONAL COLLEGE OF LAW

अधिनियम का हेतु व उद्देश्य हानिकारक खाद्य पदार्थों के विक्रय से मानव जीवन को होने वाले खतरे से सुरक्षा प्रदान करना है। खाद्य वस्तुओं के साथ अपमिश्रण किये जाने वाले कृत्यों को प्रतिबन्धित करने के लिए एवं इस व्यापक बुराई को निवारित करने के लिए इस अधिनियम को विरचित किया गया। यह अधिनियम सामाजिक प्रतिरक्षा का एक विधायी उपाय है। इस अधिनियम का आशय एक सामाजिक एवं आर्थिक रिष्टि को दबाना है, जोकि एक बुराई है। यह धन के लाभ के लिए जीवन को जीवित रखने के स्रोतों तथा समुदाय की भलाई को ही विष देने का प्रयास करता है। अतः सामाजिक प्रतिरक्षा विधान का है उचित अर्थान्वयन वह है, जो रिष्टि को दबाता है एवं उपचार को आगे बढ़ाता है। इस अधिनियम के अन्तर्गत अपराध वास्तव में लोक स्वास्थ्य और भलाई के हित में राज्य की पुलिस शक्ति द्वारा निषिद्ध कार्य है। निषेध के पृष्ठ में दण्ड का बल है। यह अपराध कठोर कानूनी अपराध है तथा इनमें आशय अथवा मानसिक अवस्था असंगत है।

कन्हैया लाल ओमर बनाम आर. के. त्रिवेदी, A.I.R. 1986, S.C. 111 के मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा अवधारित किया गया कि भारतीय संविधान के अनुच्छेद 324 (1) में दी गयी अभिव्यक्ति, 'अधीक्षण, निदेश और

नियन्त्रण का अर्थान्वयन करते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि प्रत्येक मानदण्ड जो आचरण का कोई नियम निर्धारित करता है विधान अथवा प्रत्यायोजित विधान के स्तर तक कदाचित उत्थापित नहीं किया जा सकता है। कुछ क्षेत्रों में कुछ विशेषज्ञ अथवा व्यक्ति होते हैं, जो आचरण के नियम के स्रोत हो सकते हैं, तथा जो विधिशास्त्र के कठोर भाव में उन विशेषज्ञों अथवा व्यक्तियों से जो विधि का निर्माण करते हैं, के बराबर नहीं माने जा सकते। किसी निदेश का अर्थ किसी विशिष्ट व्यक्ति को दिया गया आदेश अथवा ऐसा नियम भी हो सकता है, जिसका कई व्यक्तियों को अनुसरण करना पड़े। यह एक विशिष्ट अथवा सामान्य आदेश हो सकता है। यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि, प्रस्तुत मामले में शक्ति का स्रोत संविधान है जो देश की सर्वोच्च विधि है तथा इसी विधि पर ही सारी विधिक शक्तियाँ आधारित हैं तथा संविधान के द्वारा किसी विशिष्ट उद्देश्य के लिए प्रदत्त शक्ति का अंर्थान्वयन उदारतापूर्वक किया जाना चाहिये, ताकि जिस उद्देश्य के लिए इसे प्रदत्त किया गया है उसे प्राप्त किया जा सके। इस प्रकार से देखने पर यह स्पष्ट है कि चिन्ह सम्बन्धी आदेश कोई भी उपबन्ध इस आधार पर अनुचित नहीं ठहराया जा सकता कि, उसे प्रचलित करने वाले चुनाव आयोग के पास उसे जारी करने का प्रभुत्व नहीं था।

बी. के. गरड बनाम नासिक मर्चेन्ट्स को-ऑपरेटिव बैंक लिमिटेड, A.I.R. 1984, S.C. 192 के मामले में न्यायालय के समक्ष एक प्रश्न यह भी था कि क्या महाराष्ट्र सहकारी सोसाइटी अधिनियम, 1961 की धारा 73-ख के अन्तर्गत विनिर्दिष्ट सोसाइटी के निर्देशक बोर्ड में अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के लिए स्थान आरक्षित रखना आवश्यक है। उच्चतम न्यायालय ने अवधारित किया कि उपबन्ध की भाषा सुस्पष्ट है कि, बोर्ड में अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के लिए एक आरक्षित कोटा है। विधायिका का वास्तविक आशय जानने के लिए हेडन के मामले के सिद्धान्त को लागू किया जाना चाहिए जिसके अन्तर्गत कुछ प्रश्न ऐसे हैं, जिनके कि सम्बन्ध में न्यायालय स्वयं से ही प्रश्न करता है। ये चार प्रश्न निम्नलिखित प्रकार से हैं----

1. जिस उपबन्ध का अर्थान्वयन किया जाना है, उससे पूर्व की स्थिति क्या थी?

2. उस उपबन्ध को प्रस्तावित करने से पूर्व क्या रिष्टि अथवा अनिष्ट या दोष पाये गये थे?
3. रष्टिमण्डल के रोग के निदान के लिए संसद द्वारा किस उपचार को संकलित किया गया? तथा
4. उपचार का वास्तविक कारण क्या था?

इस सिद्धान्त को लागू करने से यह स्पष्ट है कि, अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के लोगों की यह दशा देखकर कि यद्यपि ऐसे व्यक्ति समाज के आदेशों से तो बँधे हुए हैं पर उनकी आवाज प्रबन्धकीय परिषदों में नहीं है। अतः उनको दूसरों के साथ बराबरी का दर्जा मिलना चाहिए। इसी को ध्यान में रखते हुए उनके लिए आरक्षण का प्रावधान किया गया। इसके अतिरिक्त इस अधिनियम की धारा 73-ख की भाषा एवं आरक्षित स्थान भरने के ढंग का कालानुक्रमण उचित अर्थ की दिशा इंगित करता

PGS NATIONAL COLLEGE OF LAW

है, तथा इसमें कोई सन्देह नहीं है कि, निर्वाचन द्वारा स्थान भरे जाने का अवसर अवश्य किया जाना चाहिए, परन्तु ऐसे व्यक्तियों का निर्वाचन न हो सकने पर नियुक्ति अथवा सहयोजन द्वारा स्थान भरना उचित हैं। अतः पहले निर्वाचन करना आवश्यक है।

ह्री. सी. शुक्ल बनाम राज्य, A.I.R. 1980, S.C..962 के मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा बहुमत के निर्णय से यह अवधारित किया गया कि दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 397 (2) में प्रयुक्त किया गया शब्द 'अन्तर्वर्ती आदेश' विचारण की विभिन्न अवस्थाओं; जैसे-अपील, जाँच, विचारण अथवा किसी अन्य कार्यवाही से सम्बन्धित है। इसका उद्देश्य यह है कि आपराधिक मामले के अन्तर्गत विभिन्न अवस्थाओं में होने वाले विलम्ब को रोकने में सहायता मिले ताकि कम-से-कम समय में दोषमुक्ति, उन्मोचन अथवा दोषसिद्धि की जा सके। संहिता की विस्तृत सीमा को ध्यान में रखते हुए शब्द 'अन्तर्वर्ती आदेश' का भी व्यापक अर्थ होना चाहिए जिससे निष्पक्ष विचारण के साथ बिना किसी हस्तक्षेप के संहिता की उद्देश्य प्राप्ति हो । पूर्णत: निष्पक्ष उद्देश्य प्राप्ति के लिए उसका बहुत उदार निर्वचन होना चाहिए क्योंकि संहिता की धारा 397(3) के अन्तर्गत वर्जन न्यायालय के सामने विचारणीय भारतीय दण्ड संहिता एवं अन्य अधिनियमों के मामलों पर लागू होता है। उच्च न्यायालय अथवा सत्र न्यायालय की पुनरीक्षण की शक्ति का उपयोग तभी किया जा सकता है जब न्यायालय का आदेश पूर्णत: अन्तर्वर्ती न होकर अन्तःकालीन अथवा अन्तिम सदृश हो ।

परन्तु विशेष न्यायालय अधिनियम, 1979 के लिए ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि इस अधिनियम के उद्देश्य विनिर्दिष्ट अपराधों एवं अपराधियों पर ही लागू होते हैं जिनका ध्येय शीघ्रातिशीघ्र मामलों के निपटारों से है। इसलिए अधिनियम के विभिन्न उपबन्धों का निर्वचन इस प्रकार होना चाहिए जिससे किसी प्रकार के विलम्ब अथवा विलंम्बकारी युक्तियों के द्वारा के निपटारे में बाधा न पहुँचे। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर इस अधिनियम की धारा 11 में एक सर्वोपरि खण्ड रखा गया है ताकि किसी अन्तर्वर्ती आदेश, चाहे जिसकी प्रकृति अन्तःकालीन अथवा अन्तिम सदृश हो, के विरुद्ध अपील न की जा सके। इस सर्वोपरि खण्ड का प्रभाव दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 के उपबन्धों को अलग रखना एवं उनको अभिभावी होने से रोकता है।

शब्द 'अन्तर्वर्ती' का अर्थ अन्तिम आदेश के विपरीत लगाया जाना चाहिए। साधारणतः इसे इसी प्रकार समझा जाता है। अन्तर्वर्ती आदेश केवल मामले की प्रगति से सम्बन्धित विषय-वस्तु का निर्णय करता है। यह किसी विषय पर अन्तिम आदेश या निर्णय नहीं है। एक अन्तःकालीन आदेश ऐसा आदेश है, जो मामले के प्रारम्भ होने के पश्चात्

एवं उसके निर्णय के पूर्व दिया जाता है। आरोप की विरचना का आदेश एक अन्तःकालीन आदेश होने के कारण धारा 11 में प्रयुक्त किये गए शब्द 'अन्तर्वर्ती आदेश' के साधारण एवं प्राकृतिक अर्थ के अन्तर्गत आता है तथा इस कारण इसके विरुद्ध की गई अपील स्वीकार्य नहीं है ।

Q3. निर्णीत वादों की सहायता से व्याख्या कीजिये -
(अ) निर्वचन का स्वर्णिम नियम ।
(ब) निर्वचन का प्रथम नियम ।

(अ) स्वर्णिम नियम--निर्वचन के विभिन्न सिद्धान्तों में से एक सिद्धान्त स्वर्णिम नियम है। यह स्वर्णिम नियम व्याकरणिक अथवा शाब्दिक निर्वाचन के सिद्धान्त का हो रूपान्तरण है। इस सिद्धान्त के अनुसरण में सामान्य रूप से न्यायालय विधायिका के आशय को कानून में उसके द्वारा प्रयुक्त किये गये शब्दों से ही शब्दों के स्वाभाविक एवं प्राकृतिक अभिप्राय आधार पर ज्ञात करते हैं, परन्तु यदि न्यायालय के ऐसा करने में कोई असुविधा, निरर्थकता, कष्ट, अन्याय, असंगति अथवा किसी प्रकार की कोई अस्पष्टता दृष्टिगोचर होती है, तो उस अभिप्राय को केवल इतना ही रूपान्तरित कर दिया जायेगा जितने से कि इस परिणाम को रोका जा सके। वास्तव में यह नियम अर्थान्वयन के दौरान आने वाली समस्याओं का समाधान करता है इसलिए इसे स्वर्णिम नियम कहा जाता है। इस नियम के अन्तर्गत किसी शब्द के शाब्दिक अर्थ को सुविधानुसार एवं आवश्यकतानुसार रूपान्तरित कर लिया जाता है इसलिए इसे निर्वाचन की रूफन्तरण प्रणाली के नाम से भी जाना जाता है। संविधियों का निर्वचन करते समय

PGS NATIONAL COLLEGE OF LAW

कुछ ऐसे दृष्टान्त भी सामने आ सकते हैं जिनमें यद्यपि निर्वचन में कुछ ऐसे परिणाम सम्मिलित हों जो विधायिका के आशय से परे हों परन्तु न्यायालय उसे ऐसे निर्वाचित नहीं करेगा क्योंकि उसके पास ऐसा न करने का कोई विधिक न्यायोचित कारण उपलब्ध है। इसी प्रकार अधिनियम का निर्वाचन एक सीमित दायरे के अन्दर भी किया जा सकता है, यद्यपि अधिनियम की भाषा ऐसा करने के लिए सुस्पष्ट न हो। सामान्य नियम यह है कि जब भी किसी उपबन्ध के एक से अधिक अर्थ प्रतीत होते हैं, तो उस अर्थ को ग्रहण किया जाना चाहिए जो सन्तुलित एवं विवेकी हो । न्यायालय को हमेशा अविवेकी, असन्तुलित एवं असंगत परिणाम वाले अर्थ से तथा निरर्थक एवं बेतुके अर्थान्वयन से हमेशा बचना चाहिए।

स्वर्णिम नियम का उद्देश्य यह है कि निर्वचन के परिणाम अथवा प्रभाव को बहुत अधिक महत्व दिया जाना चाहिए, क्योंकि यही विधान का सही अर्थ ज्ञात करने का सूत्र या संकेत है। यह उपधारणा है कि, विधायिका अपने कुछ उद्देश्यों को आशयहीन अवस्था में ही छोड़ देती है। इसलिए ऐसे प्रतिबन्धित उद्देश्यों की ओर ले जाने वाले निर्वचन को तत्काल अस्वीकार कर दिया जाना चाहिए। कभी-कभी न्यायालय के समक्ष ऐसे उपबन्ध या अभिव्यक्तियाँ प्रस्तुत होती हैं जिनके कि एक से अधिक अर्थ होते हैं या निकाले जा सकते हैं। ऐसी परिस्थिति में न्यायालय का कर्तव्य बढ़ जाता है तथा ऐसी दशा में न्यायालय को प्रत्येक निर्वचन के परिणाम की विवेचना सजगता से एवं ध्यानपूर्वक करनी चाहिए ताकि इससे विधायिका के आशय तक पहुँचा जा सके।

व्याख्या के स्वर्णिम नियम की विवेचना संक्षेप में निम्नलिखित प्रकार से की जा सकती है.
(क) एक से अधिक अर्थ देने वाले शब्दों में से सदैव ऐसे अर्थ को ग्रहण किया जाना चाहिए जोकि विवेकपूर्ण एवं सन्तुलित हो;
(ख) विवेक रहित, असंगत अथवा असुविधाजनक परिणामों को टाला जाना चाहिये; (ग) ऐसी व्याख्या नहीं करनी चाहिए जिसका परिणाम प्रत्यक्ष रूप से अन्यायपूर्ण प्रतीत होता हो; एवं
(घ) निरर्थक एवं तर्कहीन व्याख्या को स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि विधायिका के आशय का पता लगाने के लिए संविधि में प्रयुक्त की गयी भाषा के शाब्दिक अर्थ में कुछ सुधार किया जाना ही व्याख्या का स्वर्णिम नियम है।

नेशनल इन्स्योरेन्स कं. लि. बनाम शिन्दर कौर, A.I.R. 1998, पंजाब व हरियाणा 184 के मामले में न्यायालय ने अवधारित किया है कि जहाँ किसी संविधि की भाषा स्पष्ट एवं सामान्य हो "तो उसे उसी के अनुरूप अर्थ दिया जाना चाहिए। ऐसे मामलों में आशय पर भी विचार किया जाना आवश्यक नहीं है। इसी प्रकार राजस्थान उच्च न्यायालय ने कैलाश चन्द बनाम श्री किशन, A.I.R. 1998, राजस्थान 131 के मामले में विचार व्यक्त किया गया है कि किसी संविधि में प्रयुक्त की गयी स्पष्ट एवं असंदिग्ध भाषा को उसके व्याकरणमूलक अर्थों में ही ग्रहण किया जाना चाहिए, चाहे उससे कठिनाई, असुविधा अथवा अन्याय ही क्यों न होता हो । उड़ीसा उच्च न्यायालय ने भी इसी प्रकार का मत, जोगेश्वर मांझी बनाम समिया किशन, A.I.R. 1997, उड़ीसा 54 के मामले में व्यक्त करते हुये कहा है कि प्राकृतिक नियम यह है कि किसी संविधि में प्रयुक्त में किये गए सामान्य एवं स्पष्ट शब्दों की व्याख्या भी सामान्य रूप में ही की जाय।

प्रवर्तन निदेशालय बनाम दीपक महाजन, A.I.R. 1995, S.C. 1775 के मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा यह अवधारित किया गया कि किसी ऐसे विषय के सम्बन्ध में जो पूर्णतः विधायिका की इच्छा पर निर्भर करता हो एवं जिस पर विधायिका ने कई बार एक सा ही मत प्रकट किया हो, तो न्यायालय को यह अवधारित करते हुए कि विधायिका द्वारा व्यक्त किया गया। मत गलत है, शीघ्र निर्णय नहीं देना चाहिए। ऐसी परिस्थिति आने पर न्यायालय के लिए यही उचित हैं कि, वह अधिनियंमिति के शाब्दिक अथवा व्याकरणिक अर्थ पर ही ध्यान केन्द्रित करे। परन्तु यहीं पर न्यायालय का यह भी अधिकार है कि वह अधिनियमिति के वास्तविक उद्देश्य और विधायिका के आशय के आधार पर उस अभिव्यक्ति का निर्वचन कर सकता है, क्योंकि ऐसा न पाने की

PGS NATIONAL COLLEGE OF LAW

स्थिति में विधायिका निरर्थक हो जायेगी। ऐसे मामलों में प्रश्न यह नहीं होता कि सुसंगत उपबन्धों में शब्दों का अर्थ क्या है, बल्कि क्या विधायिका का आशय ऐसे व्यक्तियों के मामले में, जिनके विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम या सीमा शुल्क अधिनियम के अन्तर्गत ऐसे अपराध कारित करने के लिए जिससे राष्ट्र की अर्थव्यवस्था को हानि पहुँचती हो,

अपराधी घोषित कर दण्डित करने की व्यवस्था हो, न्यायालय को अधिकारिता नहीं दी गयी है। ऐसे विषयों का निर्वचन करते समय न्यायालय को क्रियाशील दृष्टि रखने की आवश्यकता है, जिससे यदि आवश्यक हो तो शब्दों की

परिधि से बाहर जाकर अधिनियमिति की आत्मा को ध्यान रखकर निरर्थकता एवं व्यावहारिक असुविधा को दूर करते हुए निर्वचन कर सके, जिससे विधायिका का लक्ष्य निरर्थक न सिद्ध हो ।

अशोका मार्केटिंग लिमिटेड बनाम द पंजाब नेशनल बैंक, A.I.R. 1991. S.C. 855 के मामले में उच्चतम न्यायालय ने अवधारित किया कि विधि में विरोध को समाप्त करने के लिए, कानूनों के निर्वचन में एक सिद्धान्त यह है कि पश्चात्वर्ती विधि पूर्ववर्ती विपरीत विधि को समाप्त कर देती है। यह सिद्धान्त एक अन्य सिद्धान्त पर आधारित है, जिसमें साधारण कथन विशेष स्थान का अल्पीकरण नहीं कर सकते।

दिल्ली किराया नियन्त्रण अधिनियम, 1958 तथा सरकारी स्थान (अप्राधिकृत अधिभोगियों की बेदखली) अधिनियम, 1971 दो अलग-अलग अधिनियम हैं। इन अधिनियमों में जिस विषय की चर्चा की गयी है, उनके सम्बन्ध में ये अधिनियम विशेष कानून हैं। चूँकि 1971 का अधिनियम एक साधारण अधिनियम न होकर एक विशेष कानून है। अतः यह सिद्धान्त कि पश्चात्वर्ती साधारण विधि, पूर्ववर्ती विधि को समाप्त कर देती है, लागू नहीं होगा। अतः 1971 के अधिनियम का 1958 के अधिनियम पर अभिभावी होने का प्रश्न नहीं उठता।

जहाँ तक दिल्ली किराया नियन्त्रण अधिनियम, 1958 की धाराओं 14, 22, 50 एवं 54 के उपबन्धों में सर्वोपरि खण्डों का प्रश्न है। यह कहा जा सकता है कि, 1971 में सरकारी स्थान अधिनियम अधिनियमित करते समय संसद को इन उपबन्धों की जानकारी थी और इसलिए उसने धारा 15 में सभी न्यायालयों, जिनमें किराया नियन्त्रण अधिनियम के अन्तर्गत किराया नियन्त्रक भी सम्मिलित है, की अधिकारिता समाप्त कर दी। इससे यह स्पष्ट है कि किराया नियन्त्रण अधिनियम में उक्त उपबन्धों के होने पर भी सरकारी स्थान अधिनियम किराया नियन्त्रण अधिनियम पर अभिभावी होगा।

अमेरिकन होम प्रोडक्ट्स कॉरपोरेशन बनाम मैक लैबोरेटरीज प्राइवेट लिमिटेड, A.I.R. 1986, S.C. 137 के मामले में जब 'ड्रिस्टॅन' नामक औषधि की गोलियों का भारतीय कम्पनी द्वारा भारतीय बाजार में प्रवेश का निश्चय किया गया तो, अपीलार्थी ने 'ड्रिस्टॅन' व्यापार चिन्ह को पंजीकृत कराने के लिए आवेदन किया। व्यापार में अपीलार्थी तथा भारतीय कम्पनी का निकट सम्बन्ध था। अपीलार्थी उस भारतीय कम्पनी में चालीस प्रतिशत का भागीदार था। अपीलार्थी का भारतीय कम्पनी के साथ तकनीकी सहयोग देने का अनुबन्ध था जिसके अनुसार कठोर क्वालिटी नियन्त्रण आवश्यक था तथा अपीलार्थी के द्वारा फार्मूला एवं सेवाएँ दी जानी थीं। इस अनुबन्ध के अन्तर्गत सभी उत्पादों का निर्माण, विपणन एवं विज्ञापन अपीलार्थी के नियन्त्रण में थे। ड्रिस्टॅन चिन्ह के उपयोग के लिए भारतीय कम्पनी द्वारा अपीलार्थी को कोई स्वामित्व (रॉयल्टी) "देय नहीं थी। अनुबन्ध में उल्लिखित किसी घटना के घटित होने के कारण यदि सहयोग अनुबन्ध समाप्त हो जाये, जिन घटनाओं में से एक यह भी थी कि यदि कम्पनी की हिस्सेदारी चालीस प्रतिशत से कम ही जाये तो भारतीय कम्पनी के द्वारा 'ड्रिस्टॅन' गोलियों का निर्माण बन्द कर दिया जायेगा। अत: इस मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा स्पष्ट किया गया कि व्यापार चिन्ह में दुर्व्यापार का कोई प्रश्न नहीं था। इन परिस्थितियों में अपीलार्थी का भारतीय कम्पनी के द्वारा व्यापार चिन्ह ड्रिस्टॅन का उपयोग, जबकि भारतीय कम्पनी को बाद में स्वयं को इस व्यापार चिन्ह के पंजीकृत उपयोगी के रूप में पंजीकृत करवाने का अधिकार था, केवल सद्भावी ही था। प्रस्तुत मामले में व्यापार चिन्ह अधिनियम, 1940 की धाराओं 14(1) एवं 39 (2)

PGS NATIONAL COLLEGE OF LAW

तथा व्यापार एवं वाणिज्य चिन्ह अधिनियम, 1958 की धाराओं 18, 46 (1) (क) (ख) तथा 48 का प्रश्न न्यायालय के समक्ष था न्यायालय ने निर्वचन के महत्वपूर्ण सिद्धान्त की पुनरावृत्ति करते हुए कहा कि किसी कानूनी उपबन्ध का ऐसा अर्थान्वयन करना उचित प्रतीत नहीं होता है जिससे वस्तुतः निरर्थकता, व्यर्थता, स्पष्ट अन्याय, असुविधा अथवा अनियमितता दृष्टिगोचर होती हो।

सदर्न फार्मास्यूटीकल्स एण्ड कैमीकल्स त्रिचूर एण्ड अदर्स बनाम स्टेट ऑफ केरला एण्ड अदर्स, A.I.R. 1981, S.C. 1863 के मामले में केरल परिशोधित स्पिरिट नियम, 1972 एवं केरल आबकारी अधिनियम, 1977 को इन आधारों पर चुनौती दी गयी कि परिशोधित स्पिरिट का विषय प्रथम सूची की प्रविष्टि 84 में होने के कारण राज्य को इस विषय में कानून बनाने की शक्ति प्राप्त नहीं है तथा यह भी कि संसद के द्वारा पहले ही औषधीय एवं प्रसाधन निर्मितियाँ (उत्पाद शुल्क) अधिनियम, 1955 पारित कर दिये जाने के कारण राज्य का विधान संविधान के प्रतिकूल है। उच्चतम न्यायालय द्वारा अवधारित किया गया कि राज्य द्वितीय सूची की प्रविष्टि 8 के अन्तर्गत 'मादक पान' अथवा द्वितीय अनुसूची की प्रविष्टि 51 के अन्तर्गत 'मानव के उपयोग के लिए मद्यसारिक अपेक्षायें' पर उत्पाद शुल्क अधिरोपित करने का विधान पारित करने में पूर्णत: सक्षम है। राज्य एवं संघ के द्वारा विधान पारित करने का क्षेत्र भिन्न है, क्योंकि द्वितीय सूची की प्रविष्टि 8 के अन्तर्गत राज्य के अधिनियम का प्रमुख उद्देश्य मादक पान तथा मादक द्रव्य का विनिर्माण, विक्रय एवं कब्जा से सम्बन्धित विधान का समेकन करना है, जबकि प्रथम सूची की प्रविष्टि 84 के अन्तर्गत केन्द्र के अधिनियम का प्रमुख उद्देश्य औषधीय एवं प्रसाधन निर्मितियों पर कर अधिरोपित करना है।

(ब) निर्वचन का प्रथम नियम- शाब्दिक अथवा व्याकरणिक निर्वचन (Literal or Grammatical Interpretation) – शाब्दिक अथवा व्याकरणिक निर्वचन, निर्वचन का प्रथम सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त की मान्यता है कि किसी अधिनियम में प्रयुक्त हुए शब्दों को उनका साधारण एवं स्वाभाविक अर्थ ही प्रदान किया जाना चाहिए एवं यदि ऐसा अर्थ स्पष्ट एवं असंदिग्ध हो तो किसी भी कानून के उपबन्ध को प्रवर्तित किया जा सकता है चाहे इस प्रकार के प्रवर्तन का परिणाम कुछ भी हो।

इस सिद्धान्त का आधार यह है कि निर्वचन के सभी सिद्धान्तों का एकमात्र उद्देश्य विधायिका के आशय को जानना है। विधायिका अपना आशय शब्दों के माध्यम से ही प्रकट करती है। इसलिए इन शब्दों का निर्वचन व्याकरणिक आधार पर ही किया जाता है। इस नियम को सर्वाधिक सुरक्षित नियम कहा जाता है, क्योंकि विधायिका द्वारा प्रयुक्त की गयी अभिव्यक्ति के आशय को ' शब्दों द्वारा ही ज्ञात किया जा सकता है। यदि किसी कानून की भाषा स्पष्ट हो तो ऐसी स्थिति में न्यायालय का यह कर्तव्य है कि वह उस अधिनियम के उपबन्धों में प्रयुक्त भाषा को ही प्रभाव प्रदान करे, न कि उसके निर्वाचन के परिणाम को देखे। विधि को यथास्थित प्रतिपादित करने के लिए न्यायालय बाध्य होते हैं। किसी अधिनियम के अन्तर्गत यदि किन्हीं तकनीकी शब्दों को प्रयोग किया गया है, तो न्यायालय को उन शब्दों का तकनीकी अर्थ ही निकालना चाहिए।

शाब्दिक अथवा व्याकरण मूलक व्याख्या के सन्दर्भ में शब्द Litera legis एवं Litera •scripta का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनका अर्थ है- लिपिबद्ध किये गए वैध शब्द ही विधि के परिचायक होते हैं। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि

लिपिबद्ध विधि में किसी भी प्रकार का परिवर्तन करने के लिए न्यायाधीश अधिकृत नहीं होते हैं। इन शब्दों की व्याख्या न्यायाधीश अपनी इच्छा के अनुरूप नहीं कर सकता है। Litera legis में विधि के शब्दों का सम्मान महत्त्वपूर्ण एवं सुरक्षित माना गया है। इसके स्थान पर Sententia legis को प्रयुक्त नहीं किया जा सकता है
जिसका तात्पर्य है विधि के अभिप्राय को खोज निकालने का प्रयास करना विधि न्यायालय किसी संविधि के अभावों की पूर्ति नहीं कर सकते हैं। जमुना प्रसाद बनाम राज्य, 1959 A.L.J. 620 के मामले में न्यायालय द्वारा अवधारित किया गया कि विधि की ऐसी ठोस शब्दावली को ही उत्तम माना जाता है जिससे एक ही अर्थ का अनुमान लगाया जा सकता हो ।

राम अवतार बनाम सहायक विक्रय अधिकारी, A.I.R. 1961, S.C. 1325 के मामले में मुख्य प्रश्न यह था कि, क्या पान का पत्ता विक्रय कर के अधिरोपण से मुक्त है अथवा नहीं? इस सम्बन्ध में अपीलकर्ता द्वारा यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि पान का पत्ता 'वेजीटेबल' के अन्तर्गत आता है, इसलिए इस पर विक्रय कर अधिरोपित नहीं किया जा सकता है। शब्दकोष के अनुसार, 'वेजीटेबल' वह होता है, जो पौधों या उनके भागों से सम्बन्धित हो; या उसमें सम्मिलित हो; या उनसे निकाली जाय; या उनसे

PGS NATIONAL COLLEGE OF LAW

प्राप्त हो। परन्तु उच्चतम न्यायालय ने इस तर्क को नहीं माना। उच्चतम न्यायालय ने आगे कहा कि, जब स्वाभाविक या साधारण अर्थ स्पष्ट तथा सन्देहहीन हो तो पान के पत्तों को शब्दकोष तकनीकी अथवा वनस्पति शास्त्रीय अर्थ प्रदान नहीं किया जा सकता है। प्रतिदिन प्रयोग होने वाले शब्दों को उनके लोकप्रिय अर्थ में समझा जाना चाहिए। उच्चतम न्यायालय द्वारा अवधारित किया गया कि, पान का पत्ता इस अर्थ में वेजीटेबल नहीं है और न वह सब्जी के अन्तर्गत ही आता है। अतः पान के पत्तों का विक्रय विक्रय कर योग्य है।

निर्वचन के शाब्दिक अथवा व्याकरणिक सिद्धान्त के सम्बन्ध में ए. आर. अन्तुले बनाम आर. एस. नायक, A.I.R. 1984, S.C. 718 का मामला एक महत्त्वपूर्ण मामला है जिसमें उच्चतम न्यायालय द्वारा यह अवधारित किया गया है कि न्यायालय को किसी उपबन्ध को जैसा वह है, वैसा ही पढ़ना चाहिए एवं वह उसे सुविधानुसार लिख नहीं सकता। निर्वचन का कोई भी सिद्धान्त, इस बात के लिए न्यायालय को अनुमति नहीं देता है कि वह धारा को इस तरह पढ़े कि उसका अर्थ अन्यथा ही निकले। आपराधिक विधि संशोधन अधिनियम, 1952 की धारा 8 (1) के अनुसार विशेष न्यायाधीश अपराध का प्रसंज्ञान लेगा न कि अभियुक्त की सुपुर्दगी पर ऐसे अपराध का प्रसंज्ञान लेगा। विधायिका ने सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों ही दशाओं के लिए प्रावधान किया है। विशेष न्यायाधीश को सकारात्मक रूप से अपराध के प्रसंज्ञान के लिए अधिकृत किया गया है एवं किसी भी तरह की सुपुर्दगी की धारणा को नकारा गया है। अतः यह सम्भव नहीं है कि धारा 8 (1) को अपीलार्थी द्वारा बताये गये ढंग से कि "केवल पुलिस आवेदन पर ही प्रसंज्ञान किया जा सकता है " नहीं पढ़ा जा सकता।

रघुनन्दन शरण बनाम मैं. प्यारे लाल वर्कशॉप प्राइवेट लिमिटेड, A.I.R. 1986, S.C. 1682 के मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा अवधारित किया गया कि किरायेदारों को केवल इस आधार पर कि उन्होंने पूर्व के दिल्ली किराया नियन्त्रण अधिनियम, 1952 की धारा 13(2) के अन्तर्गत समान लाभ प्राप्त किया था, दिल्ली किराया नियन्त्रण

अधिनियम, 1958 की धारा 14 (2) के अन्तर्गत किराया न अदा करने पर अनिष्कासन के लाभ से वंचित नहीं किया जा सकता। जहाँ कानून की भाषा स्पष्ट हो वहाँ निर्वचन का प्रश्न ही नहीं है। व्याकरणीय निर्वचन सबसे सुरक्षित नियम है।

उत्तर प्रदेश भूदान यज्ञ समिति बनाम बृज किशोर, A.1.R. 1988, S.C, 2239 के मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अवधारणा व्यक्त की कि, भूटान यज्ञ आन्दोलन ने सामान्यतया एक 'अभिव्यक्ति 'भूमिहीन विकास' का उपयोग किया। यह अभिव्यक्ति सभी स्थानों पर प्रचलित हुयी और इसे उन कृषि मजदूरों के रूप में समझा गया, जिनकी कि आजीविका का मुख्य साधन कृषि है, परन्तु जिनके पास स्वयं की अपनी कोई भूमि नहीं है अथवा राजस्व अभिलेखों में जिनके नामों में कोई कृषि भूमि अभिलिखित नहीं है। भूमिहीन किसानों की इस समस्या को सुलझाने का प्रयास इस आन्दोलन ने किया और इसी समस्या के उपचार के लिए उत्तर प्रदेश भूदान यज्ञ अधिनियम, 1953 को अधिनियमित किया गया, परन्तु प्रारूपकारों ने अधिनियम का प्रारूपण करते समय अभिव्यक्ति 'भूमिहीन किसान' के स्थान पर भूमिहीन व्यक्ति का उपयोग किया। किसी अभिव्यक्ति को वह शब्दकोष का अर्थ नहीं दिया जा सकता, जो अप्रचलित हो चुका हो और इसलिए उक्त अधिनियम में भूमिहीन किसान' ही वास्तविक अर्थ है।

सरसिल्क लिमिटेड बनाम कपड़ा समिति, A.L.R. 1989, S.C. 317 के मामले में उच्चतम न्यायालय ने अभिमत अभिव्यक्त किया कि रेयान' एवं 'नायलॉन' धागा न केवल 'अन्य रेशा' से बनाया जाता है, बल्कि वे कपड़ा समिति अधिनियम, 1963 की धारा 2 (छ) के अन्तर्गत 'कृत्रिम सिल्क' धागा है। धारा 2 (छ) में अभिव्यक्त 'कपड़ा' की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है कि उसके अन्दर न केवल धागा को ही, बल्कि मानव द्वारा निर्मित रेशे अथवा कृत्रिम सिल्क को भी सम्मिलित किया गया है। विधायिका द्वारा प्रयुक्त भाषा " धागा मानव द्वारा निर्मित रेशे जिसे कृत्रिम सिल्क के नाम से भी जाना जाता है" को वैज्ञानिक अथवा तकनीकी अर्थ में समझा जाना चाहिए। इस अधिनियम के अन्तर्गत रासायनिक शास्त्र पर कोई वैज्ञानिक पुस्तक नहीं है, यह देशी कपड़ा उद्योग के हितों के लिए एक अधिनियमिति है, जिससे भीषण अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता में भी वह स्वयं खड़ा रह सके। सन्

PGS NATIONAL COLLEGE OF LAW

1973 के संशोधन से पूर्व धारा 2(छ) की परिभाषा की सीमा से मानव द्वारा निर्मित रेशे; जैसे-हिस्क्रीज रेयान और नायलॉन रेशे को अलग रखने का संसद के पास कोई कारण नहीं दृष्टिगत होता है। विशेषतः उस समय जब कृत्रिम धागों का अन्तर्राष्ट्रीय बाजार है, जिसमें भारत भी सहभागी है।

इसी प्रकार सरस्वती चीनी मिल बनाम हरियाणा राज्य बोर्ड, A.I.R. 1992, S.C. 224 के मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा अवधारित किया गया कि, जल (प्रदूषण निवारण तथा नियन्त्रण) उपकर अधिनियम, 1977 की प्रथम अनुसूची की प्रविष्टि 15 में प्रयुक्त शब्द 'वेजीटेबल' को आम अर्ध में प्रयुक्त किया गया है। इस शब्द को वास्तविक अर्थ नहीं दिया जा सकता है। अतः गन्ना वेजीटेबल नहीं है। इस प्रकार गन्ने से चीनी बनाने वाले उद्योग इस प्रविष्टि के अन्तर्गत नहीं आते हैं और उनसे उपकर नहीं लिया जा सकता। शीरा से मद्यसार बनाने वाले उद्योग भी इस प्रविष्टि के अन्तर्गत उद्योग नहीं कहे जा सकते हैं।

तेज कुमार बालकृष्ण रुड्या बनाम ए. के. मेनन, AIR 1997, S.C. 442 के मामले में उच्चतम न्यायालय ने विशेष न्यायालय (प्रतिभूति सम्बन्धित संव्यवहारों के अपराधों के विचारण) अधिनियम, 1992 को धारा 3(3) का निर्वाचन करते हुये अवधारित किया कि विधि का स्वरूप जैसा हो उसे उसी प्रकार से निर्वाचित किया जाना चाहिए। यद्यपि प्रयोजनकारी निर्वाचन अनुज्ञेय है, तथापि जहाँ दो अर्थ निकलना सम्भावित हो वहाँ प्रयोजनकारी निर्वाचन ऐसा होना चाहिए जो उपबन्ध की संवैधानिकता को बनाये रखे।

नेशनल इन्स्योरेंस कं. लि. बनाम शिन्दर कौर, A.I.R. 1998, पंजाब व हरियाणा 184 के मामले में उच्च न्यायालय द्वारा अवधारित किया गया है कि जहाँ किसी संविधि की भाषा साधारण एवं स्पष्ट हो, वहाँ उसे उसी के अनुरूप अर्थ दिया जाना चाहिए। ऐसे मामलों में आशय पर भी •विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

इसी प्रकार राजस्थान उच्च न्यायालय द्वारा कैरनाश चन्द बनाम श्री किशन, A.L.R. 1998, राजस्थान 131 के मामले में अवधारित किया गया है कि संविधि के साधारण शब्दों को साधारण भाव में ही लेना चाहिए चाहे उसके परिणाम कुछ भी निकलें। ऐसे मामलों में कठिनाई, असुविधा, अन्याय आदि बिन्दुओं पर विचार करना अपेक्षित नहीं है।

शाब्दिक व्याख्या के नियम (Rules of Literal Interpretation)—जैसा कि सभी को विदित है कि व्याख्या का मुख्य उद्देश्य विधायिका के आशय का पता लगाना एवं उस के अनुरूप उसे अर्थ देना है। अतः किसी भी विधि की शाब्दिक व्याख्या ज्यों की त्यों की जानी चाहिए और व्याकरण के नियमों से शब्दों के प्रयोग का जो अभिप्राय निकलता हो उसी को टीक माना जाना चाहिए ताकि शब्दों का सहज एवं स्वाभाविक अर्थ लगाया जा सके। मैक्सवैल के शब्दों में, संविधियों की व्याख्या का स्वर्णिम नियम यह है कि विधि की शाब्दिक एवं व्याकरणा मूलक व्याख्या ज्यों की त्यों की जानी चाहिए तथा उसमें प्रयुक्त किये गए शब्दों का सहज एवं स्वाभाविक अर्थ लगाया जाना चाहिए।

शाब्दिक व्याख्या के नियम अथवा सिद्धान्त संक्षेप में निम्नलिखित हैं

शब्दों का यथार्थ प्रयोग- यदि किसी संविधि के प्रारम्भ में शब्दों की परिभाषाएँ दी गयी तो उस सम्पूर्ण संविधि के सन्दर्भ में उन शब्दों को वही अर्थ दिया जाना चाहिए। अतः शाब्दिक व्याख्या का यह सबसे महत्त्वपूर्ण नियम है कि शब्दों का अर्थ यथार्थ रूप में लगाया जाना चाहिए जोकि स्वाभाविक एवं सहज हो ।

शब्दों का मुख्य एवं गौण अभिप्राय- शाब्दिक व्याख्या का यह भी नियम है कि जहाँ तक सम्भव हो सके किसी संविधि में प्रयुक्त किये गए शब्दों का प्राथमिक रूप से मुख्य एवं प्राकृतिक अर्थ ही लगाया जाना चाहिए। गौण अर्थ उसी स्थिति में लगाया जाना चाहिए जबकि ऐसा किया जाना विधायिका द्वारा आशयित हो ।

PGS NATIONAL COLLEGE OF LAW

शब्दों का सामान्य अर्थ-शाब्दिक व्याख्या का यह भी एक महत्त्वपूर्ण नियम है कि किसी संविधि की व्याख्या करते समय उसमें प्रयुक्त किये गए शब्दों को प्रचलित अर्थ दिया जाना चाहिए। उड़ीसा उच्च न्यायालय ने जोगेश्वर मांझी बनाम रामिया किशन, A.I.R. 1997, उड़ीसा 54 के मामले में मत व्यक्त किया है कि प्राकृतिक नियम यह है कि सामान्य शब्दों को उसका सामान्य अर्थ ही दिया जाय।

वाणिज्यिक शब्दों का अर्थ-व्यापार एवं वाणिज्य से सम्बन्धित विधियों एवं संविधियों के अन्तर्गत व्यापारिक शब्दों को प्रयुक्त किया जाता है, जोकि व्यापार के क्षेत्र में काफी प्रचलित होते हैं। इसलिए ऐसी विधि या संविधि में प्रयुक्त किये गए शब्दों को वही अर्थ दिया जाना चाहिए जिसके लिए कि वे व्यापार जगत में प्रचलित हैं।

विधिक शब्दों का अर्थ- किसी संविधि में प्रयुक्त किये गए विधिक शब्दों को विधिक अश ही दिया जाना चाहिए, क्योंकि विधिक शब्द एवं सामान्य शब्दों में भिन्नता होती है तथा उनका अर्थ एवं आशय भी भिन्न होता है।
उदाहरणार्थ-'विवाचन' एवं 'विवाचन करार' एक ही अधिनियम के दो अलग-अलग शब्द हैं जिनका आशय एवं अर्थ भी भिन्न है। अतः इन शब्दों की व्याख्या इसी के अनुरूप की जानी चाहिए।

तकनीकी शब्दों का अर्थ-तकनीकी शब्दों की व्याख्या विधायिका के आशय को ध्यान में रखते हुये की जानी चाहिए क्योंकि तकनीकी विषयों में प्रयुक्त किये जाने वाले शब्द तकनीकों प्रकृति के होते हैं तथा उनका शाब्दिक अर्थ तकनीकी अर्थ से भिन्न होता है। रुक्मा बाई बनाम लाल भाई मोती चन्द, 5M.I.A. 234 के मामले में अवधारित किया गया कि यदि किसी संविधि में विधायिका ने आशयपूर्वक किसी तकनीकी शब्द को प्रयुक्त किया है, तो उसे तकनीकी अर्थों में ही ग्राह्य किया जाना चाहिए चाहे वह शाब्दिक अर्थ से भिन्न ही क्यों न हो।

कलात्मक शब्दों का अर्थ- किसी संविधि में कलात्मक रूप से प्रयुक्त किये गए शब्दों की व्याख्या कलात्मक रीति से एवं तकनीकी अर्थ में की जानी चाहिए।

एक से अधिक अर्थ रखने वाले शब्दों का अर्थ- किसी संविधि में कई बार ऐसे शब्दों को प्रयुक्त कर दिया जाता है जिसके अर्थ एक से अधिक होते हैं। ऐसी स्थिति में किसी एक अर्थ को ग्रहण करना द्विविधापूर्ण हो जाता है। अतः ऐसे शब्दों की व्याख्या इस प्रकार की जानी चाहिए कि एक तरफ तो विधायिका के आशय की पूर्ति हो जाय तथा दूसरी तरफ वह संविधि के उपबन्धों के अनुरूप भी हो ।

तेज कुमार बालकृष्ण बनाम ए. के. मेनन, A.I.R. 1997, S.C. 442 के मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा अवधारित किया गया है कि जहाँ किसी शब्द के दो अर्थ निकलते हों अथवा दो मत बनते हों, वहाँ उसमें से ऐसे अर्थ अथवा मत को अंगीकृत किया जाना चाहिए जो उस उपबन्ध की संवैधानिकता को सुरक्षा प्रदान करती हो । प्रियव्रत मेहता बनाम अमरेन्द्र बैनर्जी, A.I.R. 1997, पटना 114 के मामले में पटना उच्च न्यायालय ने तथा शान्ति स्वरूप सरकार बनाम • प्रदीप कुमार सरकार, A.I.R. 1997, कलकत्ता 197 के मामले में कलकत्ता उच्च न्यायालय ने भी इसी प्रकार की अवधारणायें व्यक्त की हैं।
समतुल्यता शब्दों का अर्थ- संविधियों की शाब्दिक व्याख्या का एक नियम यह भी है कि संविधि में प्रयुक्त किये गए शब्द को सभी स्थानों पर समतुल्य अर्थ दिया जाना चाहिए। एक ही शब्द को भिन्न-भिन्न अर्थ दिया जाना उचित नहीं है ।

'और' एवं ' अथवा' शब्दों का प्रयोग-संविधियों में अधिकांश रूप से 'और' एवं ' अथवा' शब्दों को प्रयुक्त किया जाता है। ये दोनों ही शब्द भिन्न-भिन्न अर्थ बोधक हैं। अतः उनकी व्याख्या करते समय काफी सावधानी एवं सतर्कता बरतनी चाहिए। यदि

PGS NATIONAL COLLEGE OF LAW

इन दोनों शब्दों को एक दूसरे के स्थान पर प्रयुक्त कर दिया जाता है, तो इससे अर्थ का अनर्थ हो जाने की सम्भावना बढ़ जाती है।

डॉ. बी. एन. गुप्ता चेरिटेबल ट्रस्ट बनाम दिल्ली डवलपमेंट अथोरिटी, A.I.R. 1997, दिल्ली 50 के मामले में दिल्ली उच्च न्यायालय द्वारा यह अवधारित किया गया है कि 'और' एवं ' अथवा ' शब्दों को अपनी-अपनी जगह ही प्रयुक्त किया जाना चाहिए।

एजस्डम जेनरिस का नियम- यह नियम भी शाब्दिक व्याख्या का एक महत्त्वपूर्ण नियम है जिसके अनुसार यदि किसी संविधि में विशिष्ट अर्थ वाले शब्दों का अनुगमन सामान्य शब्दों द्वारा किया जाता है, तो उनका अर्थान्वयन भी उसी रूप में किया जाना चाहिए जैसे उनका सम्बन्ध उन्हीं व्यक्तियों या सामान्य प्रकार की उन्हीं वस्तुओं से है जिनका उल्लेख उन शब्दों द्वारा किया गया है। इस नियम की प्रयोज्यता के लिये यह आवश्यक है कि संविधि में विनिर्दिष्ट शब्दों की गणना की गई हो, इन गणनाओं का समूह एक वर्ग गठित करता हो, ऐसी गणना से कथित वर्ग का समापन नहीं होता हो, सामान्य शब्द विशिष्ट शब्दों का अनुगमन करते हों, एक सामान्य वर्ग का अस्तित्व हो तथा विधायिका का आशय सामान्य शब्दों को व्यापक अर्थ प्रदान करने का नहीं रहा हो।

केसस ओपीसस का सिद्धान्त– 'केसस ओमीसस' का तात्पर्य है न्यायालय द्वारा संविधि की कमियों की पूर्ति नहीं किया जाना । किसी संविधि की व्याख्या करते समय न्यायालय को यह अधिकार नहीं है कि वह उस संविधि में कोई शब्द जोड़े या निकाले और न न्यायालय उस संविधि के गुण एवं दोषों पर ही विचार कर सकता है, बल्कि न्यायालय का एक मात्र कर्तव्य यही है कि वह किसी संविधि की व्याख्या करते समय उस संविधि में प्रयुक्त किये गए शब्दों का शाब्दिक •अथवा व्याकरणमूलक अर्थ ही ग्रहण करे।.

रेडेण्डो सिंगूला सिंगूलस– इस नियम को प्रतिदान का नियम भी कहा जाता है, जिसका तात्पर्य है प्रत्येक शब्द को प्रत्येक का अर्थ प्रतिदान करना ।

नोसिटर-ए-सोसिस- शाब्दिक व्याख्या के इस सिद्धान्त का तात्पर्य है कि, “संदिग्ध शब्दों का अर्थ उनसे सम्बद्ध शब्दों से ग्रहण करना।" इस सिद्धान्त के अनुसार किसी संविधि में प्रयुक्त किये गए शब्दों का अर्थ उस संविधि की विषय वस्तु से ग्रहण किया जा सकता है या उन शब्दों की ध्वनि से किया जा सकता है जिनके साथ वे शब्द प्रयुक्त किये गये हैं, परन्तु यह सिद्धान्त वहाँ लागू नहीं होगा जहाँ कि विधायिका का आशय स्पष्ट हो एवं शब्दों में किसी प्रकार की संदिग्धता न हो ।

PGS NATIONAL COLLEGE OF LAW